

दर्शन तो करें, पर इस तरह



-श्रीराम शर्मा आचार्य

दर्शन तो करें, पर इस तरह



लेखक :
पं० श्रीराम शर्मा आचार्य



प्रकाशक :
युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट
गायत्री तपोभूमि, मथुरा

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९

फैक्स नं०- २५३०२००

पुनरावृत्ति सन् २०११

मूल्य : ६.०० रुपये

दर्शन के लिए देव स्थानों पर जाने वालों की संख्या बहुत बड़ी है। दर्शन का दर्शन (फिलोसॉफी) समझने के लिए इस पुस्तक का स्वाध्याय सभी दर्शनार्थियों को करना, कराना चाहिए, ताकि दर्शन करने का पूरा लाभ मिल सके। पाठक बंधुओं को यह पुस्तक यथासंभव अधिक से अधिक मँगाकर दर्शनार्थियों को वितरित करनी चाहिए अथवा पढ़ानी चाहिए। न्यूनतम ३००० पुस्तकें मँगाने पर आपका नाम-पता भी सौजन्य से छपाकर आपको उपलब्ध कराई जा सकती हैं।

व्यवस्थापक

युग निर्माण योजना मथुरा-३

दर्शन तो करें, पर इस तरह

दर्शन करने की हमारे समाज में बड़ी महिमा मानी जाती है। देव मंदिरों के एवं तीर्थों के दर्शन करने लोग बहुत कष्ट उठाकर, बहुत पैसा लगाकर जाते हैं और दर्शन करने के उपरांत बहुत संतोष अनुभव करते हैं। कहते हैं, हमारे भाग्य में ऐसा सुअवसर लिखा था जिसके अनुसार अमुक तीर्थ या देव-प्रतिमा के दर्शन हो सके। इसी प्रकार किसी संत, महात्मा, विद्वान या महापुरुष को देखने के लिए भी लोग दौड़-दौड़कर जाते हैं और समझते हैं कि दर्शन का पुण्यफल उन्हें प्राप्त हो गया। हमारे देश में यह मान्यता बहुत गहराई तक जड़ जमाए बैठी है। दर्शन के लाभ के संबंध में लोगों की मान्यता चरम-सीमा तक पहुँच गई है। कितने ही लोग तो कल्याण का एकमात्र उपाय दर्शन को ही मान लेते हैं। कुंभ के मेले में लाखों व्यक्ति इसलिए जाते हैं कि वहाँ जाने पर तीर्थ-स्नान के अतिरिक्त संत-महात्माओं के भी दर्शन होंगे, जिससे उनके पाप कट जाएँगे और पुण्य लाभ मिल जाएगा।

अति न की जाए—महात्मा गाँधी के दर्शनों के लिए लाखों व्यक्ति पहुँचते थे। जिधर से वे निकलते थे, उधर के स्टेशनों पर भारी भीड़ जमा होती थी और दर्शन के लिए आग्रह करती थी। दिनभर के कठोर श्रम से थके होने पर रात को वे गाड़ी में सो रहे होते थे तो भी लोग उन्हें जगाने और दर्शन देने का आग्रह करते थे। उन्हें विश्राम न मिलने से कष्ट होगा, बीमार पड़ जाएँगे, जैसी बातों की उन्हें परवाह नहीं होती थी, हर हालत में उन्हें दर्शन चाहिए ही। बेशक लोगों के दिल में महात्मा गाँधी के प्रति श्रद्धा भावना भी थी, पर साथ ही दर्शन से पुण्य मिलने का लोभ भी कम न था। यदि श्रद्धा मात्र ही रही होती और उसके साथ विवेक का नियंत्रण भी रहता तो कठोर काम से थके हुए एक वयोवृद्ध परमार्थी

दर्शन तो करें, पर इस तरह ३

सत्पुरुष को रात्रि में जगाने का आग्रह क्यों किया जाता ? ऐसी दशा में लोग अपनी श्रद्धा को अंतःकरण तक भी सीमित रख सकते थे और बिना दर्शन पाए भी उसका काम चला सकते थे, पर जब दर्शनों का पुण्यलाभ ही लेना ठहरा तो किसी को कष्ट होगा, बीमार पड़ जाने का खतरा रहेगा, इसकी चिंता करने की क्या आवश्यकता समझी जाए ?

यह दर्शन के पुण्यफल संबंधी मान्यता की अति है। अति की सीमा पर पहुँचकर अमृत भी विष बन जाता है। श्रद्धा जब विवेक की सीमाओं का उल्लंघन करती है, तब वह अंध-श्रद्धा कहलाती है और उससे लाभ के स्थान पर हानि ही होती है। श्रद्धा जहाँ आत्मा को ऊँचा उठाती है, ईश्वर तक ले पहुँचती है, वहाँ अंध-श्रद्धा मनुष्य को अविवेक, अनाचार एवं अधःपतन के गर्त में धकेल देती है। अंध-श्रद्धा का शोषण करके अगणित धूर्त लोग बेचारी भोली जनता का बुरी तरह शोषण करते रहते हैं। यह शोषण दोनों पक्षों के लिए अहितकर है। शोषक अधिकाधिक दुष्टता पर उतारू होता है और शोषित दिन-दिन दीन-हीन बनता चला जाता है। इसलिए शास्त्रों में जहाँ श्रद्धा की प्रशंसा है, वहाँ अंध-श्रद्धा की भर्त्सना भी कम नहीं की गई है। दर्शनों का लाभ बहुत है, उससे इंकार नहीं किया जा सकता, पर जब उसके संबंध में इतना अति उत्साह बरता जाए जो अंध-श्रद्धा तक जा पहुँचे तो यही मानना चाहिए कि अब इससे लाभ कम और हानि अधिक होने की संभावना है।

दर्शन वह प्रथम प्रयास है जिससे किसी विषय की जानकारी मिलती है। जानकारी से श्रद्धा बढ़ती है। श्रद्धा से उसका तथ्य समझने के लिए उत्साह बढ़ता है। तथ्य को अपनाने का प्रयत्न करने पर वह अभ्यास में आता है। अभ्यास परिपक्व होने पर उस विशेषता के कारण अभीष्ट लाभ मिलता है। दर्शन का लाभ इतनी मंजिलें पार करने पर ४ दर्शन तो करें, पर इस तरह

फलित होता है। यह सोचना सही नहीं है कि देखने भर से अभीष्ट उद्देश्य प्राप्त हो जाएगा।

स्कूल का दर्शन—किसी से सुना है कि अमुक प्राथमिक स्कूल में स्वच्छता, व्यवस्था एवं शिक्षा पद्धति बड़ी अच्छी है। उसमें बच्चे को पढ़ाना अच्छा रहता है। इच्छा हुई कि स्कूल के दर्शन करने चाहिए। वहाँ पहुँचे, देखा, जैसा बताया गया था वैसा ही है। इमारत बहुत बढ़िया, सफाई, हवा रोशनी का प्रबंध ठीक, बैठने की सुविधाजनक व्यवस्था, फीस कम, शिक्षक सुयोग्य, हर साल का परीक्षाफल संतोषजनक। स्कूल के दर्शन करने पर इतनी प्राथमिक जानकारी मिली और मन प्रसन्न हुआ, श्रद्धा बढ़ी। इस श्रद्धा ने जिज्ञासा उत्पन्न की कि इसमें क्या-क्या विषय पढ़ाए जाते हैं। हमारे बच्चों के लिए क्या-क्या विषय पढ़ना ठीक होगा, उसे पढ़ने में क्या सुविधा-असुविधा रहेगी, इस स्कूल में भरती होने पर विद्यार्थी को क्या-क्या शर्तें पूरी करनी होंगी। अधिकारियों से पूछा गया, उन्होंने सब कुछ संतोषकजनक ढंग से बता दिया। अब बच्चा स्कूल में दाखिल करा दिया गया। सोचा गया था, इसे डॉक्टर बनाना है, इसलिए 'जीव-विज्ञान' का विषय भी पढ़ते रहना चाहिए। पढ़ाई चालू हुई। बच्चे ने परिश्रमपूर्वक पढ़ना आरंभ किया। इंटर कक्षा उत्तीर्ण करने तक उसने अपना अध्यवसाय धैर्यपूर्वक जारी रखा। अच्छे नंबरों से उत्तीर्ण हुआ। मेडीकल कालेज में भरती हुआ। पाँच साल सर्जरी आदि में अभ्यास किया, परीक्षा दी, पास हुआ। इस उपक्रम से उस प्राथमिक स्कूल में भरती होने से लेकर डॉक्टर बनने तक की प्रक्रिया पूर्ण करने के उपरान्त वह किसी अस्पताल में डॉक्टर की कुर्सी सुशोभित करने लगा। प्राथमिक स्कूल में बच्चे को भरती करने से पूर्व उसका जो दर्शन किया था, वह फलदायक हो गया। बच्चे को डॉक्टर बनाने के लिए पढ़ाना था। इसके लिए अच्छे स्कूल की तलाश थी। सुने

दर्शन तो करें, पर इस तरह ५

अनुसार उपर्युक्त पाठशाला का पता चला तो उसके प्रत्यक्ष दर्शन किए। दर्शन का अभीष्ट फल भी मिला, समयानुसार बालक ने डॉक्टर बनने में सफलता भी प्राप्त कर ली। दर्शन का प्रत्यक्ष पुण्यफल मिल गया।

कोई व्यक्ति सोचता है—“अमुक अच्छी प्राथमिक पाठशाला की कृपा से कई बच्चे डॉक्टर हो चुके हैं, इसलिए हम भी उसका लाभ उठावें। लाभ उठाने के लिए उसे इतना ही पर्याप्त लगता है कि इस स्कूल का दर्शन कर लिया जाए, उसकी परिक्रमा लगा ली जाए। दंडवत कर लिया जाए और थोड़े समय में थोड़ा खर्च करके यह कर्मकांड पूरा होने पर घर आया जाए।” बस इतने मात्र से डॉक्टर बनाने का पुण्यफल बच्चे को मिल जाए। कई बच्चे जब इसी स्कूल की कृपा से डॉक्टर हुए हैं, तो हमारा बच्चा क्यों न होगा? इस प्रकार सोचने वाले व्यक्ति की श्रद्धा चाहे कितनी ही बढ़ी-चढ़ी हो और वह उस पाठशाला के प्रति कितने ही उच्चभाव क्यों न रखे, अपने बच्चे को डॉक्टर बनाने में सफलता प्राप्त न कर सकेगा। कारण यह है कि वह दर्शन से लेकर अभीष्ट लाभ तक के बीच की जो लंबी कड़ी है, उसे आँख से ओझल कर रहा है। कितना श्रम करने पर, कितना समय लगाने पर, कितने साधन जुटाने पर पाठशाला के छात्र डॉक्टर बनते हैं, यदि इन बातों की उपेक्षा की जाए तो उचित न होगा। पाठशाला के दर्शन करते ही डॉक्टर होने का वरदान मिलने की आशा करना, न तो उचित है न विवेक सम्मत। वह पूरी हो भी कैसे सकती है?

अस्पताल की दर्शन झाँकी—अपना शरीर रुग्ण है। सुना है कि अमुक अस्पताल में इस रोग का ठीक इलाज होता है। कई रोगी अच्छे हुए हैं। श्रद्धा बढ़ी, वस्तुस्थिति जानने के लिए वहाँ गए। देखा अस्पताल में वस्तुतः बहुत अच्छी व्यवस्था है। रोगियों की सुविधा का पूरा ध्यान रखा जाता है, डॉक्टर सुयोग्य एवं सेवाभावी हैं। इस रोग के दर्शन तो करें, पर इस तरह

विशेषज्ञ हैं। बहुत रोगी अच्छे होते हैं। इस जानकारी से श्रद्धा बढ़ी। अब अधिक विवरण जानने की उत्कंठा हुई। क्या उपचार होता है, कितना समय लगता है, क्या शर्तें पूरी करनी होती हैं, कितना खर्च पड़ता है? जिज्ञासाओं का समाधान अधिकारियों से पूछा गया, उन्होंने सब कुछ संतोषजनक ढंग से समझा दिया। पूरी जानकारी प्राप्त करने के बाद अस्पताल में भरती हुए। डॉक्टरों ने जितने दिन जो करने के लिए, जिस तरह रहने, परहेज करने के लिए कहा था, उसी तरह रहे। उपचार चलता रहा, रोग घटता रहा, एक समय आया जब रोग से मुक्ति मिल गई। अस्पताल की प्रशंसा करते हुए घर आ गए। प्रथम दिन अस्पताल का दर्शन करने जिस कामना को लेकर गए थे, वह पूर्ण हो गई। जैसा बताया गया था, जैसा सुना था, अक्षरशः सच निकला।

एक दूसरा व्यक्ति उसी रोग का रोगी है। अस्पताल की प्रशंसा सुनता है, वहाँ जाता है, दर्शन करता है। इसके उपरांत परिक्रमा लगाता है, दंडवत करता है, फाटक पर पुष्पहार समर्पित करता है, दीपक जलाता है, अस्पताल की स्तुति बखानता है और घर चला आता है। सोचता है कि उसका दर्शन-पूजन रोग-मुक्ति की अभीष्ट मनोकामना पूर्ण कर देगा। ऐसे व्यक्ति का उपहास ही किया जाएगा क्योंकि वह आदि और अंत की प्रक्रिया से ही परिचित है। अस्पताल जाने वाले रोगमुक्त होते हैं, केवल इतनी ही जानकारी उसे है। बेचारे को यह पता ही नहीं कि आदि और अंत के बीच में 'मध्य' भी एक तथ्य होता है। कामना और उसकी पूर्ति के बीच में एक लंबा व्यवधान भी रहता है जिसे लंबी मंजिल की तरह क्रमबद्ध रूप से पूरा करना होता है। इस मध्यवर्ती साधना क्रम की उपेक्षा करने से अभीष्ट उद्देश्य कैसे पूरा हो सकता है? इस कड़वी सचाई को बेचारा भावुक व्यक्ति समझ ही नहीं पा रहा है। अस्पताल के दर्शन करने से रोगमुक्ति की आशा लगाए बैठा

दर्शन तो करें, पर इस तरह ७

है। भले ही उसकी श्रद्धा कितनी ही प्रबल क्यों न हो, चिकित्सा का कष्टसाध्य आयोजन किए बिना, अस्पताल द्वारा मिल सकने वाला लाभ किसी को कहाँ मिल सकेगा ?

मंडी के दर्शन से अर्थ-लाभ—किसी से सुना कि मंडी में कई व्यक्ति जाकर खरीद-फरोख्त का व्यापार करते हैं और धन कमाते हैं। मंडी में आने-जाने वाले, उस क्षेत्र के संपर्क में रहने वाले, नित्य-दर्शन करने वाले लोग धनी व्यापारी बन जाते हैं। इस चर्चा को सुनकर एक बेकारी दूर करने का इच्छुक व्यक्ति मंडी जाता है, वहाँ का रंग-ढंग देखता है, कइयों को बेचने में और कइयों को खरीदने की क्रिया करते हुए और लाभ कमाते हुए देखता है। उसकी श्रद्धा बढ़ती है कि बात ठीक है। यहाँ बेकारी दूर करने और कुछ उपार्जन करने के साधन मौजूद हैं। अब वह वहाँ वालों से पूछताछ करता है कि मेरी स्थिति के अनुसार यहाँ क्या काम करना संभव हो सकता है। जो सुझाव समझ में आया उसे अपनाता है। निरंतर परिश्रम करता है, भूलों को सुधारता है और क्रमशः व्यापार बढ़ता चलता है और वह धनी व्यापारी बन जाता है। दूसरे बड़े व्यापारियों की तरह कार-कोठी बना लेता है। जो पूछता है, उसी से मंडी की प्रशंसा करता है और कहता है कि यही सौभाग्य वृद्धि का वरदान है। जो इसके दर्शन करता है, अमीर बन जाता है। उसका कथन अक्षरशः सही और अनुभूत भी है।

दूसरा व्यक्ति मंडी के द्वारा धनी होने की चर्चा सुनता है, उसका माहात्म्य सुनकर लालायित हो उठता है। प्रातःकाल स्नान कर, चंदन धारण कर, हाथ में धूप, दीप, नैवेद्य, पुष्प, अक्षत लेकर जा पहुँचता है। मंडी देवी की मनौती मनाता है, स्तुति करता, पूजा-उपहार समर्पित करता है, परिक्रमा लगाता है, साष्टांग प्रणाम करता है और घर चला आता है। घड़ी-घड़ी विकलतापूर्वक प्रतीक्षा करता है कि लक्ष्मी जी ८ दर्शन तो करें, पर इस तरह

कब आवें, कब मोटर, कोठी खरीदी जाए ? इस प्रकार की प्रतीक्षा करने वाले को बुद्धिमान नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसने मंडी द्वारा लक्ष्मी प्राप्त होने की चर्चा मात्र सुनी है, पूरा तथ्य समझने की कोशिश नहीं की है। यदि उसने वस्तुस्थिति जानने का प्रयत्न किया होता तो प्रतीत होता कि मंडी का दर्शन तो एक शुभ आरंभ मात्र है, यहाँ से एक लंबी शृंखला आरंभ होती है, जिसके साथ कठोर श्रम, अविचल धैर्य, पर्याप्त समय, आवश्यक सूझबूझ, कठोर संघर्ष का ताना-बाना बुना हुआ है। उस लंबी मंजिल को जो साहसपूर्वक पार कर सकता है, केवल वही लक्ष्मी उपार्जन का अधिकारी बनता है। यदि यह तथ्य उसे विदित होता तो मंडी के दर्शन मात्र से लक्ष्मी प्राप्ति का वरदान पाने के लिए लालायित न बैठा रहता।

दर्शन का उद्देश्य एवं प्रयोजन— उपर्युक्त तीन उदाहरणों से यह समझने का अवसर मिलता है कि स्कूल का दर्शन डॉक्टर की पदवी दिलाने में, अस्पताल का दर्शन रोग-मुक्ति कराने में, मंडी का दर्शन लक्ष्मी की प्राप्ति में निश्चित रूप से समर्थ है। इसलिए दर्शन की यदि प्रशंसा की जाती है, उपयोगिता बताई जाती है, आवश्यकता प्रतिपादित की जाती है तो वह यथार्थ है। इसमें तनिक भी अत्युक्ति नहीं है, पर यह भुला न देना चाहिए कि 'दर्शन की अभीष्ट मनोकामना पूर्ति' के प्रतिपादन के पीछे लंबी 'किंतु' 'परंतु' लगी हुई है और वह इतनी कठोर सचाई है कि उसकी उपेक्षा करने से प्रतिपादन की सारी दीवार ही भरभरा कर गिर पड़ती है और फिर मिथ्या कल्पना के अतिरिक्त उसका कोई स्वरूप ही नहीं बच सकता। बदनाम शेखचिल्ली की हँसी सिर्फ इसलिए उड़ाई जाती है कि सिर पर रखे घड़े से मिलने वाली मजदूरी के चंद पैसे से उसके विवाह होने, पुत्र होने और उसके साथ मनोरंजन करने तक की मनोवांछा को चंद मिनटों में ही पूरी होते देख लिया था। वह यह भूल

दर्शन तो करें, पर इस तरह ९

गया था कि घड़ा ढोने की मजदूरी मिलने पर उसे कितने मनोयोगपूर्वक साधना करनी होगी, तब कहीं पैसे से मुरगी, मुरगी से गाय, गाय से भैंस, भैंस के बाद शादी, शादी से बच्चे का क्रमिक विकास होने पर उसके साथ मनोरंजन करने का अवसर आएगा। यदि यह लंबी मंजिल पूरी कर सकने का बानिक न बन सका तो उससे कल्पना के गुब्बारे उड़ाना सर्वथा निरर्थक है। सोचते कुछ भी रहा जाए, पर मिलेगा कुछ नहीं। शेखचिल्ली मियाँ ने इस कटुसत्य को यदि समझ लिया होता तो संभवतः उनकी योजना उतनी ही लंबी एवं विस्तृत होती, जितनी कि अनुभवी, व्यवहारबुद्धि एवं विवेकशील लोगों की होती है। तब फिर उसकी पूर्ति में भी कोई बाधा न थी। संसार में असंख्य मनुष्य ऐसे हुए भी हैं, जिन्होंने न्यूनतम साधनों की सहायता से उन्नति के उच्चतम शिखर पर पहुँचने में सफलता प्राप्त की है। शेखचिल्ली भी वैसा कर सकता था। तब उसकी न तो हँसी होती और न बदनामी वरन् उसकी योजना को सराहा ही जाता।

देखें ही नहीं विचारें भी—‘दर्शन’ शब्द देखने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसी शब्द का दूसरा अर्थ—विवेचना या विचारणा भी होता है। शुभ दर्शन करना अपने आप में एक अच्छी बात है, पर उसके अच्छाई के पीछे भी एक विवेचना या विचारणा सन्निहित है। हमें उस पर ध्यान देना चाहिए। जिस तथ्य के आधार पर देखने जैसी एक अत्यंत तुच्छ क्रिया को इतना महत्त्व मिला है, उसके संबंध में हमें अपरिचित नहीं रहना चाहिए अन्यथा फिर देव-प्रतिमाओं से लेकर संत-महात्माओं तक के दर्शन का न कोई मूल्य रह जाएगा और न कोई प्रयोजन ही रहेगा।

गोता, रामायण, वेद-शास्त्रों के हम दर्शन करें, यह बहुत उत्तम है, पर देखने के पश्चात उनमें प्रतिपादित शिक्षाओं को भी सुनना-समझना चाहिए। इतना ही नहीं वरन् उन शिक्षाओं को कार्यान्वित भी करना

१० दर्शन तो करें, पर इस तरह

चाहिए। जो इतना कर सकेगा, उसे उपर्युक्त पुस्तकें श्रेय प्रदान करेंगी, जो माहात्म्य बताया गया है, उसे भी प्रत्यक्ष प्रमाणिक करेंगी, किंतु यदि देखने भर की बात को शास्त्रों के लाभ को आधार मान लिया गया तो उतनी सी तुच्छ क्रिया से, शास्त्रों के माध्यम से मिल सकने वाला पुण्य कदापि न मिल सकेगा। पुस्तक विक्रेताओं के गोदामों में बहुमूल्य ग्रंथरत्न अनाज के बोरो की तरह भरे रहते हैं, वे उन्हें रखते, उठाते, देखते-भालते रहते हैं, पर इससे न तो उनकी ज्ञानवृद्धि में कोई सहायता मिलती है और न उनके द्वारा मिल सकने वाला पुण्य का प्रयोजन सिद्ध होता है। प्रेस वालों के यहाँ तो पुस्तकों का जन्म ही होता है। वे कंपोज करने, छापने, जिल्द बनाने तक की सारी क्रियाएँ करते हैं। गीता के प्रवक्ता भले ही कृष्ण रहे हैं, छंदबद्ध भले ही व्यासजी ने किया हो, पर पुस्तक को मूर्त रूप देने का श्रेय तो प्रेस वालों को ही है। वे भी कृष्ण एवं व्यास के बाद तीसरे नंबर के गीता-उद्गाता कहे जाएँ तो इसमें कुछ भी अत्युक्ति न होगी। फिर भी गीता, वेद-शास्त्र आदि के अध्ययन से जिस लाभ की आशा की जा सकती है, क्या वह उन पुस्तक विक्रेताओं या प्रेस वालों को मिल पाता है ?

भावनाएँ ही आधार हैं—मंदिरों में प्रतिष्ठापित प्रतिमाएँ मूर्तिकारों की कला और मेहनत का परिणाम हैं। वे अपने जीवन में विभिन्न देवी-देवताओं को गढ़ते, बनाते रहते हैं, पर क्या मीरा को जो लाभ 'गिरधर गोपाल' की छोटी-सी प्रतिमा ने दिया था, वह उन मूर्तिकारों को मिलता है ? कारण स्पष्ट है कि मूर्तिकार केवल पत्थर को खोदता, चीरता, तराशता, घिसता है, उसकी कार्यपद्धति यहीं तक सीमित है। देवता को हृदय में बिठाने और उन भावनाओं के अनुरूप जीवन को ढालने-बदलने से उसे कुछ प्रयोजन नहीं होता, फलस्वरूप उसे वह लाभ भी नहीं मिलता जो भावुक भक्त उन्हीं प्रतिमाओं के माध्यम से प्राप्त करते रहते

दर्शन तो करें, पर इस तरह ११

हैं। यही बात बुकसेलरों और प्रेस वालों के संबंध में लागू होती है। वे किताबों का व्यवसाय मात्र करते हैं। जो मूल्य कुँजड़े की दृष्टि से आलू का है, वही इन लोगों की दृष्टि से ग्रंथों का। ऐसी दशा में स्वाध्याय द्वारा जीवन-निर्माण के प्रयत्न में लगे हुए ज्ञान-साधकों की तरह उन्हें लाभ मिल भी कैसे सकता है ?

दर्शन तब तक अधूरा है, जब तक उसका दर्शन भी हृदयगमन करने के लिए हम तत्पर न हों। तीर्थों में, मंदिरों में, अगणित लोग देव दर्शन के लिए जाते हैं। प्रतिमाओं को देखते भर हैं। हाथ जोड़ दिया या एक दो पैसा चढ़ावे का फेंक दिया अथवा पुष्प, प्रसाद आदि कोई छोटा-मोटा उपहार उपस्थित कर दिया, इतने मात्र से उन्हें यह आशा रहती है कि उनके आने पर देवता प्रसन्न होंगे, अहसान मानेंगे, और बदले में मनोकामनाएँ पूर्ण कर देंगे। आमतौर से यही मान्यता अधिकांश दर्शनार्थियों की होती है, पर देखना यह है कि क्या यह मान्यता ठीक है, क्या उसके पीछे कुछ तथ्य भी हैं, या ऐसे ही एक भ्रम परंपरा से भ्रमित लोग इधर से उधर मारे-मारे फिरते हैं ?

ईश्वर एक है, सर्वत्र व्याप्त है। उसकी उपस्थिति कण-कण में विद्यमान है। किसी स्थान में न तो वह अधिक है और न कम। भावनापूर्वक जहाँ भी उसे देखा जाएगा, वहाँ प्रस्तुत होगा और जहाँ भावरिक्ता रहेगी, वहाँ उसका अस्तित्व भी अनुभव न होगा। गंगाजल की शीशी हाथ पर रखकर झूठी कसम खाने का प्रश्न आने पर एक आस्तिक ग्रामीण की छाती दहलाने लगती है और वह बड़े-से-बड़े लाभ के लिए भी वैसा नहीं कर पाता, परंतु जिन्हें गंगा की दिव्यशक्ति के प्रति आस्था नहीं है, वे गंगा में नहाते हुए भी झूठ बोलते रहते हैं, इसमें उन्हें तनिक भी झिझक नहीं होती। गंगा-स्नान करने कराने का व्यवसाय करने वाले लोग दिनभर अनर्गल झूठ गंगा-तट पर ही बोलते रहते हैं। उन्हें उस १२ दर्शन तो करें, पर इस तरह

ग्रामीण की तरह संकोच नहीं होता जो शीशी में थोड़ा-सा गंगाजल भी हाथ पर रखते हुए तनिक-सा असत्य बोलते हुए घबराने लगता है। महत्त्व गंगा का उतना नहीं, जितना आस्था का है। आस्था न हो तो पानी का कुछ महत्त्व नहीं। कितनी ही नहरों और तालाबों में भी गंगाजल भरा रहता है, पर आस्था के अभाव में वह जल कोई धार्मिक प्रयोजन सिद्ध नहीं करता। गंगाजल का दर्शन तो उसमें नाव चलाने वाले और मछली पकड़ने वाले भी करते हैं, पर उन्हें तब तक पुण्य-लाभ कैसे मिलेगा, जब तक उस जल दर्शन के साथ-साथ भाव दर्शन भी संयुक्त एवं समन्वित न हो।

सत्पुरुष और उनके दर्शन—व्यक्तियों के दर्शन पर भी यही बात लागू होती है। किन्हीं संत, महात्मा, महापुरुष, ज्ञानी का शरीर दर्शन तभी उपयोगी हो सकता है जब उन्हें देखने के बाद उनको सुनने, समझने, विचारने एवं अपनाने का भी प्रयत्न किया जाए। सत्पुरुष के शरीर दर्शन से जो प्रेरणा मिले, उसे एक कदम आगे बढ़ाया जाना चाहिए। उसकी महत्ता किन कारणों, किन गुणों के कारण है, उसे समझना चाहिए। एक हाड़-माँस के व्यक्ति को अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ सम्मानित जिन सद्गुणों ने, जिन आदर्शों ने बनाया, उन्हें अधिक श्रद्धा, अधिक भावना, अधिक तन्मयता से देखना चाहिए। इतना ही नहीं, इन श्रेष्ठताओं को अपने भीतर भी ओत-प्रोत होने का एक भावपूर्ण कल्पना चित्र हृदयगम्य करना चाहिए। शरीर दर्शन एवं गुण चिंतन से जो प्रेरणा प्राप्त हो, उसे अपने को उसी दिशा में चलने का संबल बनाना चाहिए। यदि इतना काम किया जा सका तो समझना चाहिए कि दर्शन सार्थक हो गया। जिन्होंने इस प्रकार की मानसिक स्थिति में सत्पुरुषों के दर्शन किए हैं, वे धन्य हो गए। उन्हें वह लाभ मिल गया जो दर्शन से मिलना चाहिए, किंतु जिन्होंने आँख के पलक

दर्शन तो करें, पर इस तरह १३

मात्र खोलकर कलेवर देखा, उन्हें कुछ भी न मिल सका, वे खाली हाथ ही बने रहे।

गाँधी जी का भाव दर्शन करने वाले नेहरू, पटेल, विनोबा, राजेंद्र प्रसाद जैसे व्यक्तित्व कृतकृत्य हो गए। उन्होंने गाँधी दर्शन का प्रत्यक्ष पुण्यफल प्राप्त कर लिया, पर जो लोग केवल उनका शरीर भर देखते रहे, देखते ही नहीं उस शरीर की सेवा के लिए नाई, धोबी, ड्राइवर, रसोइया, चपरासी सरीखे काम भी वर्षों करते रहे, उनमें रत्तीभर भी कोई हेर-फेर न हुआ। उन्हें वेतन के रूप में कर्मचारी को मिलने वाले साधारण से अर्थ लाभ के अतिरिक्त और कोई उपहार प्राप्त न हुआ। विनोबा ने गाँधी जी के पैर दबाने, मालिश करने, हजामत बनाने जैसा निकटतम दर्शन भले ही न किया हो, पर उन्होंने गाँधी के तत्त्वज्ञान को बारीकी से देखा, सीखा और अपनाया। उन लोगों का पता भी नहीं जो गाँधी जी की नित्य शारीरिक सेवा तथा साज-सँभाल करते थे और उनके इर्द-गिर्द में ही दिन-रात बने रहते थे। यदि शरीर दर्शन से कुछ लाभ हुआ होता तो निश्चय ही गाँधी, पटेल, विनोबा आदि की अपेक्षा वे लोग ही अधिक उच्चकोटि के महापुरुष बन गए होते जो निरंतर उनके साथ-साथ या सामने ही रहते थे।

प्रेरणा आवश्यक तो है, पर पर्याप्त नहीं— प्रारंभिक प्रेरणा के रूप में स्थूल दर्शन अर्थात् शरीर या प्रतिमा का देखना, एक हद तक उपयोगी हो सकता है, होता भी है। देवस्थान में जाने पर आस्तिकता के भाव उदय होते हैं, भौतिक जीवन से आध्यात्मिकता की ओर झुकाव होता है। निश्चित ही ईश्वर का स्मरण आता है। यह एक प्राथमिक संकेत लाभ है। इतने मात्र का पुण्य तो है, पर है वह राई रत्तीभर ही। श्मशान में जाने पर कुछ क्षण के लिए वैराग्य के भाव उदय होते हैं, पर वे पीठ फेरते ही विलीन हो जाते हैं। बहुत दिन बाद मरघट जाया जाए १४ दर्शन तो करें, पर इस तरह

तो वे भाव फिर भी न्यूनाधिक मात्रा में उदय होते हैं, पर यदि मरघट के पास ही अपना खेत का रास्ता हो और जल्दी-जल्दी उसे देखने का अवसर मिले तो वह वैराग्य के भाव जागना भी बंद हो जाता है। तीर्थों में बाहर के लोग श्रद्धा-भक्ति पूर्वक जाते हैं और मंदिरों के दर्शन करके भावान्वित होते हैं, पर जो उन मंदिरों के आस-पास ही रहते हैं, उनके मन में कोई आकर्षण पैदा नहीं होता। आँखों के आगे अभ्यस्त रहने से साधारण वस्तुओं जैसे ही देखते रहते हैं। यदि स्थूल दर्शन में ही कोई विशेषता या महत्ता रही होती तो निश्चय ही मंदिरों के समीप रहने वाले, तीर्थों में निवास करने वाले अथवा सत्पुरुषों के साथी बनने वालों के जीवनक्रम में कोई विशेष श्रेष्ठता उत्पन्न अवश्य हुई होती, पर प्रत्यक्ष में बिलकुल भी वैसा देखने में नहीं आता। मरघट में यदि वैराग्य उत्पन्न करने की क्षमता रही होती तो उधर से बार-बार निकलने वाले व्यक्ति अवश्य ही वैरागी बन गए होते।

भगवान बुद्ध ने जीवन में प्रथम बार ही एक रोगी, एक वृद्ध एवं एक मृतक का दर्शन किया और वे जीवन-दर्शन की गहराई तक उतर गए। फलस्वरूप उन्हें अपनी विचार-पद्धति और कार्यप्रणाली में भारी हेर-फेर करना पड़ा। राजमहल को छोड़कर वे निविड़ वन प्रदेश में चले गए। विलासिता का परित्याग कर कठोर तप करने लगे। दर्शन की सार्थकता इसी में है। ऐसा ही दर्शन पुण्यफलदायक होता है। चाहें तीर्थ के दर्शन किए जाएँ, चाहे देव प्रतिमा के, चाहें किसी संत सत्पुरुष के। उसे आँखों से देख भर लेना पर्याप्त न माना जाना चाहिए। कलेवर को देखना ध्यानाकर्षित करने का प्राथमिक उपचार हो सकता है, पर इतनी ही सीमा में यदि अवरुद्ध बना रहा जाए और इतने को ही पर्याप्त मान लिया जाए, इतने से ही प्रचुर फल प्राप्ति की आशा बाँध ली जाए तो समझना चाहिए कि वस्तुस्थिति

दर्शन तो करें, पर इस तरह १५

को समझा ही नहीं गया है। यदि कोई बालक पट्टी, कलम, खड़िया को हाथ में पकड़ते ही एक-एक कक्षा पास होने पर जो लाभ मिलेंगे, उन्हें तत्काल पाने की आशा करने लगे और एक-एक कक्षा तक की पढ़ाई करने वाली कष्टसाध्य प्रक्रिया को भुला दे तो उसे बालक की नासमझी ही कहना चाहिए। हम में से अधिकांश दर्शनार्थी प्रायः ऐसी ही नासमझी करते रहते हैं।

फल के लिए कर्म आवश्यक—हमें यह जानना चाहिए कि कोई प्रयोजन कर्म के द्वारा सिद्ध होता है। कर्म की प्रेरणा प्रखर विचारों से मिलती है, विचारों का उन्नयन स्वाध्याय एवं सत्संग से होता है और वैसा वातावरण जहाँ भी हो, उन व्यक्तियों, स्थानों, संतों और तीर्थों को देखना, वहाँ जाना वैसी अभिरुचि या सुविधा उत्पन्न करता है जिससे स्वाध्याय-सत्संग का लाभ मिल सके। प्राचीनकाल में तीर्थों का निर्माण इसी प्रयोजन से हुआ था। वहाँ ऋषियों का, मनीषियों का निवास रहता था और वे बाहर से आते रहने वाले जिज्ञासुओं, तीर्थयात्रियों को वह प्रेरणा, शिक्षा एवं परामर्श देते रहते थे, जिससे अभाव, कष्ट एवं उद्वेग भरा जीवन सुख-शांति, प्रगति एवं समृद्धि की दिशा में परिवर्तित हो सके। यह प्रशिक्षण ही तीर्थों का प्राण था। ऐसे पुनीत स्थानों पर भगवान के मंदिर भी होने ही चाहिए, होते भी थे। सबको सत्संग से प्रेरणा मिलती थी। कुछ दिनों उस बदले हुए वातावरण में रहकर लोग जो प्रकाश प्राप्त करते थे, उससे उनकी कार्य पद्धति ही बदल जाती थी। जहाँ जीवनक्रम बदला, वहाँ परिस्थितियों का बदलना भी स्वाभाविक ही है। शुभ दिशा का परिवर्तन मनुष्य के लिए कल्याणकारक ही होता है। तीर्थों में जाकर जिसने यह लाभ प्राप्त कर लिया, वह पुण्यफल का अधिकारी हो ही गया। उसे सत्परिणामों एवं स्वर्ग-संतोष मिलने में संदेह ही क्या ?

१६ दर्शन तो करें, पर इस तरह

देव-दर्शन से भाव समन्वय—देव-दर्शन के साथ-साथ ये भावनाएँ अविच्छिन्न रूप में जुड़ी रहनी चाहिए कि दिव्यता ही श्रद्धा एवं सम्मान की अधिकारिणी है। हम देव-प्रतिमा के माध्यम से विश्वव्यापी दिव्यता के सम्मुख अपना मस्तक झुकाएँ, उसका प्रकाश अपने अंतःकरण में प्रवेश कराएँ और जीवन के कण-कण को दिव्यता से ओत-प्रोत करें। देवता का अर्थ है—दिव्यता का प्रतीक प्रतिनिधि। आदर्शवाद देवता है, कर्तव्य देवता है, प्रेम देवता है, साहस देवता है, संयम देवता है, दान देवता है, क्योंकि उनके पीछे दिव्यता की अनंत प्रेरणा विद्यमान रहती है। चाहे मनुष्य हो, चाहे नदी, तालाब अथवा देव प्रतिमा, जिसमें भी हम दिव्यता देखें उसी में देवत्व भी परिलक्षित होगा और जहाँ देवतत्व हो उसका श्रद्धापूर्ण सम्मान एवं अभिवंदन होना ही चाहिए। देव-प्रतिमा को जब ईश्वर का प्रतीक या प्रतिनिधि माना जाए तो उसके आगे सिर झुकेगा ही। जब कण-कण में ईश्वर विद्यमान है तो देव-प्रतिमा वाला पत्थर भी उसकी सत्ता से रहित नहीं हो सकता।

इस प्रकार देव-प्रतिमा में ईश्वर की मान्यता करके श्रद्धापूर्वक उसके आगे मस्तक झुकाने में हर्ज कुछ नहीं, लाभ ही है। जो भाव दिन में अन्य अवसरों पर बन नहीं पाता वह देव-दर्शन के माध्यम से कुछ क्षण के लिए तो प्राप्त हो ही जाता है। इस दृष्टि से यह उत्तम ही है, पर भूल यह की जाती है कि हम इतनी मात्र प्रारंभिक क्रिया को लक्ष्य पूर्ति का आधार मान लेते हैं। यह तो ऐसी ही बात है जैसे अस्पताल दर्शन से, रोग मुक्ति, स्कूल दर्शन से, ग्रेजुएट की उपाधि प्राप्त होने की आशा करना। बेशक अस्पताल रोग मुक्त करते हैं और स्कूल ग्रेजुएट बनाते हैं, पर लंबे समय तक एक क्रमबद्ध आचरण करना पड़ता है, तभी वह लाभ संभव होता है। इसी प्रकार देवदर्शन से जो प्रारंभिक उत्साह एवं ध्यानाकर्षण होता है, उसे लगातार जारी रखकर यदि आत्मनिर्माण की

दर्शन तो करें, पर इस तरह १७

मंजिल पर चलते रहा जाए तो समयानुसार वह दिन आ सकता है जब ईश्वर-दर्शन, स्वर्ग-मुक्ति आदि का मनोरथ पूरा हो जाए, पर किसी तीर्थ या देव मंदिर की प्रतिमा को आँखों से देखने या पाई पैसा चढ़ा देने मात्र की क्रिया करके यह आशा करना कि—‘अब हम कृतकृत्य हो गए। हमारी साधना पूर्ण होगी’ सर्वथा उपहास्यास्पद है। आज लाखों तीर्थ यात्री उसी आशा से विभिन्न तीर्थों की यात्राएँ करते हैं जो जीवन-साधना की तपश्चर्या द्वारा आत्मनिर्माण का प्रयोजन पूरा होने पर ही मिल सकना संभव है।

घोड़ा लकड़ी का नहीं, जानदार हो—छोटे बच्चे लकड़ी की काठी को घोड़ा बनाकर उस पर सवार होते हैं और घुड़सवार जैसा अनुभव करते हैं। उनका अपना मन बहलाव इस प्रकार होता है, पर क्या वस्तुतः इस प्रकार घोड़ा मिलने का लाभ उन्हें मिल गया? बढ़िया घोड़ा बाजार में बेचने पर कोई हजारों रुपए दे सकता है, पर वह लकड़ी का घोड़ा उस बच्चे को सौ रुपया भी नहीं दिला सकता। बढ़िया घोड़े पर सवार होकर घंटे भर में छह किलोमीटर पहुँचा जा सकता है, पर यह लकड़ी का घोड़ा तो जरा सी दूर भी भार वहन नहीं कर सकता वरन् उलटा बच्चे को ही हाथ से पकड़कर खींचता पड़ता है। मन बहलाव की बात अलग है। वह तो सस्ते से सस्ते उपकरण द्वारा भी हो सकता है। नाटक में कोई साधारण व्यक्ति भी राजा बन सकता है। राजा जैसे कपड़े पहनकर वैसा ही अभिनय करते हुए कुछ देर अपने को राजा अनुभव कर सकता है, पर वस्तुस्थिति तो वस्तुस्थिति ही रहेगी। इस प्रकार नाटक का राजा बनने से कोई व्यक्ति राज-पाट का अधिकारी नहीं बन सकता और न उसे वह सुख-सुविधा मिल सकती है जो असली राजाओं के पास होती है। देव-दर्शन से स्वर्ग-मुक्ति प्राप्त होने की आशा करना लकड़ी पर चढ़े हुए घुड़सवार जैसी मन बहलाव की १८ दर्शन तो करें, पर इस तरह

भाव भरी कल्पना तो है, पर उसमें क्या कुछ तथ्य भी है, यह बात दूसरी है। इसके उत्तर प्राप्त करने के लिए हमें सोचना होगा कि जब सांसारिक छोटे-छोटे लाभों के लिए जीवन भर एड़ी से चोटी तक पसीना बहाना पड़ता है, तब आध्यात्मिक लाभ जो भौतिक लाभों से अनेक गुने महत्त्वपूर्ण एवं कठिन हैं, क्या प्रतिमा दर्शन जैसे अति सरल साधन के द्वारा ही पूरे हो जाएंगे। यदि वे इतने सस्ते रहे होते तो स्वर्ग-मुक्ति जैसे लाभों का फिर कोई मूल्य ही न रह जाता। प्रतिमाएँ सर्वत्र हैं। प्रायः हर व्यक्ति कहीं न कहीं किसी न किसी देव-प्रतिमा को किसी न किसी प्रयोजन से देख ही लेता है। यदि दर्शन मात्र से मुक्ति संभव रही होती तो संसार के अधिकांश मनुष्यों को वह अनायास ही मिल गई होती और फिर तब किसी को तप, त्याग, संयम, सेवा जैसे कठिन कार्यों को करने की कोई आवश्यकता या उपयोगिता ही नहीं रहती।

अच्छा यह है हम बाल-विनोद की आदत को छोड़ें और हर बात की गहराई में उतरकर उसकी वास्तविकता समझने का प्रयत्न करें। यही बुद्धिमत्ता का मार्ग है। इसी से कुछ प्रयोजन सिद्ध होता है। ईश्वर के सभी पुत्र हैं, पर उसका विशेष अनुग्रह उन्हें प्राप्त होता है जो अपनी पात्रता सिद्ध करते हैं। गुण, कर्म, स्वभाव को उत्कृष्ट एवं आदर्श बनाकर हम अपने में देवत्व बढ़ाते हैं और जहाँ देवत्व होता है वहीं देवता का अनुग्रह बरसता है। भौरे वहाँ आते हैं, जहाँ सुगंधित पुष्प खिले होते हैं। गंदी कीचड़ में कोई भौरा क्यों जाएगा? देवता की अनुकंपा उन आत्माओं को प्राप्त होती है जो अपने भीतर देवत्व जाग्रत करते हैं। आत्मा को परमात्मा तक पहुँचाने के लिए यह मंजिल हर हालत में पूरी करनी पड़ेगी। इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस मंजिल को पूरी करने में अनेक धार्मिक कर्मकांड, अनुष्ठान एवं आयोजनों की आवश्यकता पड़ती है। उसी में से एक छोटा-सा आयोजन देवदर्शन

दर्शन तो करें, पर इस तरह १९

भी हो सकता है। यदि उसे करने के बाद अपना मन बदले और असुरता से विमुख होने एवं देवत्व की ओर चलने की प्रेरणा प्राप्त करे तो समझना चाहिए कि देवदर्शन सार्थक हुआ और यदि यह मान लिया जाए कि—‘दर्शन से अब तक के पाप तो कट ही गए, आगे जब कभी वे फिर बहुत संचित हो जाया करेंगे तो फिर कुछ किराया खर्च करके फिर दर्शन कर आया करेंगे।’ तो यही मानना चाहिए कि ऐसा दर्शन उलटा भ्रम उत्पन्न करने वाला हुआ, क्योंकि पाप के दंड से छूटने की सरल तरकीब मिल जाने से मनुष्य उस ओर से निर्भय एवं निःशंक हो गया। इसी प्रकार जिसने यह मान लिया कि—‘देवता के दर्शन कर उससे दोस्ती गाँठ ली गई और उस दोस्ती के आधार पर स्वर्ग-मुक्ति जैसी सुविधा बिना कोई मूल्य चुकाए प्राप्त कर लेंगे।’ तो भी यही कहना होगा कि इस देव-दर्शन ने हमें ऐसी भ्रांति में धकेल दिया जो कभी भी संभव नहीं हो सकती।

छल्लेदार चुसनी चूसने में क्या मिलेगा ?—छोटे बच्चे जब रोते हैं और उन्हें दूध देना नहीं होता है तो ग्लिसरीन भरी हुई छल्ले वाली चुसनी उसके मुँह में लगा देते हैं। बच्चे उसे चूसते रहते हैं और यह अनुभव करते रहते हैं कि वे दूध पीने की क्रिया कर रहे हैं। बच्चे का मन बदल जाता है और वे रोने-चिल्लाने की बात छोड़ देते हैं। यद्यपि उनका पेट भरने वाली कोई बात उस छल्लेदार चुसनी में नहीं होती। उसका प्रयोजन इतना भर होता है कि बालक की तड़पन-आकांक्षा कुछ देर के लिए शांत हो जाए। ऐसा ही प्रयोजन उन छुटपुट धार्मिक क्रियाकांडों से भी पूरा होता है जो करने में अति सरल होते हैं। थोड़ा-सा समय और थोड़ा-सा पैसा खर्च करके जिन्हें कोई भी पूरा कर सकता है। इन क्रियाकृत्यों का माहात्म्य इतना बढ़ा-चढ़ाकर बताया जाता है कि बाल-बुद्धि लोग उतने भर से बड़ी-बड़ी आशाएँ बाँध लेते

२० दर्शन तो करें, पर इस तरह

हैं। हर व्यक्ति के भीतर एक आंतरिक तड़पन रहती है कि वह श्रेष्ठता प्राप्त कर ऊँचा उठे और आत्मिक विभूतियों का आनंद लाभ करे। क्षुधा एवं कामवासना जैसे शरीर को उद्विग्न करती हैं, उसी प्रकार आत्मा को भी उत्कृष्टता की भूख सताती रहती है। ईश्वर मिलन, ब्रह्म निर्वाण, आत्मविकास उसी आकांक्षा का नाम है। यह किसी जादू मंत्र से या क्रियाकलाप मात्र से पूरी नहीं हो सकती, वरन् एक-एक कदम अपने दोष दुर्गुणों का परिष्कार करते हुए, दिव्य तत्त्वों के अभ्यस्त बनते हुए प्राप्त की जाती है। आत्मिक दृष्टि से श्रेष्ठ बनने के लिए हर व्यक्ति को संयम का, त्याग का, सेवा का मार्ग अपनाना पड़ता है। यह कठिन, समय-साध्य एवं श्रम-साध्य है। पग-पग पर अपने-आप से संघर्ष करना पड़ता है। कुसंस्कारों को कुचलता पड़ता है और सत्प्रवृत्तियों के अभ्यस्त बनने की साधना करनी पड़ती है। यही तो तपश्चर्या का, ईश्वर प्राप्ति की साधना का एकमात्र उपाय है। प्राचीनकाल के ऋषि-मुनि, महापुरुष एवं सद्गृहस्थ इसी साधना में निरंतर निरत रहकर आत्मिक लक्ष्य पूर्ण करते थे। वही मार्ग प्राचीनकाल में था, वही अब है। इसका न कोई विकल्प था और न होगा। यदि कोई सरल रास्ता रहा होता तो ऋषियों को आजीवन इस तरह कष्ट साध्य साधनाएँ नहीं करनी पड़ती। वे ऐसे ही कोई सस्ते नुस्खे ढूँढ़ लेते जैसे कि हम ढूँढ़ लेते हैं। वे भी हमारी ही तरह भौतिकता में कंठ तक डूबे रहते हुए भी ईश्वर प्राप्ति, स्वर्ग प्राप्ति, मोक्ष प्राप्ति का दुहरा लाभ प्राप्त करने से क्यों चूकते? वे हमसे अधिक बुद्धिमान थे, मूर्ख नहीं। यदि सस्ते नुस्खे कारगर होते तो उन्होंने अवश्य ही उन्हें खोजा और अपनाया होता, पर वे जानते थे कि ईश्वर के सनातन नियम अपरिवर्तनीय हैं। आत्मशोधन के बिना, आत्मनिर्माण के बिना, आत्मविकास के बिना आत्मकल्याण कदापि संभव नहीं हो सकता। इस मान्यता के आधार पर प्राचीन भारत का हर छोटा-बड़ा

दर्शन तो करें, पर इस तरह २१

नागरिक अपने-अपने ढंग से जीवन-निर्माण की साधना में संलग्न रहता था और आत्मकल्याण का लक्ष्य प्राप्त करता था ।

हमारी मूर्खतापूर्ण बुद्धिमानी—हम अपने ढंग के अनोखे बुद्धिमान हैं, जिन्होंने सस्ते से सस्ते मूल्य पर कीमती उपलब्धियाँ प्राप्त करने की तरकीबें खोज निकाली हैं । हमारी मान्यता है कि अमुक तीर्थ, देव-प्रतिमा या संत का दर्शन कर लेने मात्र से आत्मकल्याण का लक्ष्य अत्यंत सरलतापूर्वक प्राप्त किया जा सकता है । विचारणीय यह है कि क्या हमारी यह मान्यता सही हो सकती है । विवेक का एक ही उत्तर हो सकता है—नहीं, कदापि नहीं । काशीवास करने से यदि मनुष्य स्वर्गगामी हुआ करते तो वहाँ रहने वाले दुष्ट दुराचारियों को भी सद्गति मिल जाती । कर्मफल जैसा कोई सिद्धांत ही शेष न रहता, तब कोई सत्कर्म करने की आवश्यकता भी न समझता, तब ईश्वरीय न्याय एवं व्यवस्था जैसी कोई वस्तु भी इस संसार में न होती । तब पक्षपात की ही आपाधापी का बोलवाला रहता । काशीपति से जिनकी पहचान हो गई, वे उनके गाँव में रहने के कारण वही लाभ उठाते जो भ्रष्टाचारी मिनिस्ट्रों से उनके स्वजन संबंधी या निकटवर्ती लोग उठाया करते हैं । जब ईश्वर भी वैसा ही करता है, तब मनुष्यों को पक्षपात करने पर दोष कैसे दिया जा सकेगा ? जब दर्शन करने मात्र से देवता इतने प्रसन्न हो जाते हैं कि जीवन-निर्माण की साधना के लंबे मार्ग पर चलने वालों से भी अधिक लाभ बात की बात में दे देते हैं, तब तो उन लोगों की दृष्टि में दर्शन से बड़ी बात और हो ही क्या सकती है ?

व्यवस्थित विश्व का हर कार्य व्यवस्थित—यह विश्व सुदृढ़ न्याय एवं व्यवस्था के आधार पर चल रहा है । ईश्वर यदि ऐसा दुलमुल हो कि कर्मफल के स्थान पर छोटे-छोटे क्रियाकृत्यों को ही सब कुछ मान बैठे तो उसकी सत्ता उपहास्यास्पद बन जाएगी ? यहाँ ऐसा न कभी २२ दर्शन तो करें, पर इस तरह

हुआ है और न आगे होगा। विश्व न्याय और व्यवस्था पर आधारित है। ईश्वर स्वयं ही अपने आपको इसी मर्यादा में आबद्ध किए हैं। राजा स्वयं कानून तोड़ेगा तो प्रजा से उसे पालन करने के लिए वह किस मुँह से कह सकेगा? जो लोग यह आशा करते हैं कि जीवन-निर्माण की साधना के वास्तविक अध्यात्म की उपेक्षा करके देव-दर्शन जैसे छोटे उपकरण के माध्यम से इस महान लक्ष्य की प्राप्ति कर लें, वे मनसूबे बाँधने वाले बालबुद्धि लोग ही हो सकते हैं। कागज की नाव पर चढ़कर किसी नदी को पार कर सकना संभव नहीं हो सकता। रबड़ की छल्लेदार चूसनी चूसते रहने पर भी बालक का पेट नहीं भर सकता। आत्मा की यह महत्वाकांक्षा तो अपने आपको आदर्श एवं उत्कृष्ट बनाने वाली गतिविधियाँ अपनाने से ही तृप्त हो सकती है। यदि हम धार्मिक कृत्यों के बढ़े-चढ़े माहात्म्य की कल्पना कर उससे झूठा आत्मसंतोष करने लगेंगे तो यह आत्मप्रवंचना के अतिरिक्त और कुछ भी न होगा।

तीर्थयात्रा हमें करनी चाहिए, अवश्य करनी चाहिए, पर उसके पीछे उतना ही प्रयोजन मन में रहना चाहिए जो वास्तविक है। वे साधन आवश्यक हैं, जिनसे मनुष्य की ज्ञान-वृद्धि होती है, अनुभव बढ़ता है, संसार का स्वरूप समझने में सहायता मिलती है, एक ही परिस्थिति में रहते-रहते जो ऊब आने लगती है, वह दूर होती है। नए-नए प्रदेशों और व्यक्तियों से संपर्क बनता है, ऐतिहासिक स्थानों एवं व्यक्तियों से प्राप्त हो सकने वाली प्रेरणा मिलती है, जलवायु बदलती है, आदि अनेक लाभ ऐसे हैं जो महत्त्वपूर्ण स्थानों की यात्रा करने से मिलते हैं। यात्रा मानव जीवन का महत्त्वपूर्ण मनोरंजन है। गरीब-अमीर उसे अपने-अपने ढंग और साधनों के अनुरूप करते हैं और करनी भी चाहिए, जो स्वाभाविक एवं संभव है। अत्युक्तिपूर्ण माहात्म्य बनाना और जादू भरे प्रतिफल मिलने की मान्यता बनाना, यह दोनों ही बातें अनुपयुक्त हैं। दूध

दर्शन तो करें, पर इस तरह २३

पीने से स्वास्थ्य सुधरता है यह ठीक है, पर कोई यह कहे कि दूध पीने से वकील बन जाते हैं तो यह बात अत्युक्ति पूर्ण है। इस कथन में कोई संगति हो भी सकती है तो वह इसी प्रकार होगी कि दूध पीने से स्वास्थ्य बढ़ता है, उसे अध्ययन में लगाए रहकर समयानुसार वकील बना जा सकता है। अध्ययन के श्रम वाली बात छोड़ या हटा दी जाए तो दूध पीकर वकील बनने की बात का तुक कैसे बिठाया जा सकेगा ? यात्राएँ करने से मनुष्य की आत्मोन्नति, स्वर्ग-प्राप्ति आदि के बारे में भी इसी प्रकार सोचना चाहिए।

देखें और सीखें—देव मंदिरों में दर्शन हमें करने चाहिए और जिन देव-आत्मा की वह प्रतीक प्रतिमा है, उसके सद्गुणों एवं सत्कर्मों को अपने में प्रतिष्ठापित एवं विकसित करने का विचार करना चाहिए। वह विचार इतना भावपूर्ण प्रेरक हो कि देवता की विशेषताएँ जीवन में उतारने की प्रेरणा प्रस्तुत करने लगे तो समझना चाहिए कि देवदर्शन हुआ। हनुमान जी का दर्शन करके ब्रह्मचर्य, सत्यपक्ष की निःस्वार्थ सहायता, दुष्टता के दमन में अपने प्राणों तक की बाजी लगा देना जैसी विशेषताएँ अपने भीतर बढ़ानी चाहिए। भगवान राम के दर्शन करने हों तो पिता-माता के प्रति श्रद्धा, भाईयों के प्रति सौहार्द्र, पत्नी के प्रति अनन्य स्नेह, दुष्टता से जूझने का साहस और भगवान कृष्ण के दर्शन करने पर मित्रता निवाहना, असुरता से लड़ना, रथवान जैसे कामों को भी छोटा न मानना, गीता जैसी मनोभूमि रखना आदि श्रेष्ठ तत्वों को हृदयगम्य करना चाहिए। शंकरजी से सहिष्णुता, उदारता, त्याग-भावना, सूर्य से तेजस्वी एवं गतिमान रहना, दुर्गा से प्रतिकूलताओं के साथ साहसपूर्वक जूझना, सरस्वती से ज्ञान का अविरत विस्तार करना जैसे गुणों की प्रेरणा प्राप्त की जा सकती है। यह प्रेरणा जितनी ही प्रबल होगी देवदर्शन उतना ही सार्थक माना जाएगा। यदि इस प्रकार से कोई गुण चिंतन न २४ दर्शन तो करें, पर इस तरह

किया गया और उन विशेषताओं को अपने जीवन में बढ़ाने के लिए कोई प्रयत्न न किया गया तो फिर किसी प्रतिमा के दर्शन मात्र से स्वर्ग जाने या मनोकामनाएँ पूर्ण होने जैसी मान्यता बना बैठना असंगत ही होगा। देखने का लाभ तो है, पर इतना नहीं जितना लोगों ने मान रखा है। अत्युक्ति सर्वथा अनुपयुक्त ही होती है। फिर चाहे वह अल्पविकसित लोगों को धर्म की ओर कदम बढ़ाने के प्राथमिक प्रयास के रूप में ही क्यों न की गई हो।

मनुष्यों का दर्शन भी ठीक इसी प्रकार है। किन्हीं ज्ञानी, संत, त्यागी, महात्मा या महापुरुष का दर्शन करना, उनके प्रति श्रद्धा, सद्भावना का होना प्रकट करता है, पर इतने से ही कुछ काम चलने वाला नहीं, कदम आगे भी बढ़ाना चाहिए। जिनके दर्शन किए गए हैं उनमें यदि कोई उपयुक्त विशेषताएँ हैं तो उन्हें ग्रहण करना चाहिए, उनके उच्चादर्शों या सिद्धांतों में से कोई अपने लिए उपयुक्त हो, उसे ग्रहण करना या व्यवहार में लाना चाहिए। उनसे आत्मीयता बढ़ाकर प्रगति की दिशा में सहयोग लेना चाहिए। ऐसा करने पर ही वह दर्शन लाभदायक होगा अन्यथा आजकल जिस मान्यता से लोग साधु पुरुषों के दर्शन करने जाया करते हैं, उसमें तथ्य अल्प और भ्रांति विशेष है। आज तो लोग देवताओं की तरह मनुष्यों के दर्शनों से भी यह आशा करते हैं कि दूर से चलकर देखने आने को वे अपने प्रति किया गया एहसान मानेंगे और उस एहसान की कृतज्ञता दिखाने के बदले हमारी मनोवांछाएँ पूरी कर देंगे। यह आशा-दुराशा मात्र है क्योंकि कल्याण, कर्मों से ही होता है। सत्कर्मों के लिए प्रेरणा प्राप्त करना ही तो दर्शन का उद्देश्य है, पर प्रेरणा पाने और अपने को बदलने की बात मन में घुसे नहीं, देखने से ही सब कुछ मिल जाने की आशा की जाए तो यह किसी भी प्रकार संभव हो सकने वाली बात नहीं है।

दर्शन तो करें, पर इस तरह २५

दार्शनिक दृष्टिकोण की आवश्यकता—ऐतिहासिक, प्राकृतिक, कला प्रधान प्रगतिशील स्थानों को देखने के लिए, मनोरंजन करने के लिए अक्सर लोगों का जाना होता है। यात्रा जहाँ एक अच्छा मनोरंजन है, वहाँ उससे ज्ञान एवं अनुभव बढ़ने का लाभ भी प्राप्त होता है। इसलिए भारत ही नहीं संसार भर के लोग अपनी रुचि एवं पहुँच के स्थानों की यात्रा करते रहते हैं और गंतव्य स्थान पर जो कुछ देखने योग्य होता है, उसे देखकर अपने कौतूहल तथा जिज्ञासा की तृप्ति का लाभ प्राप्त करते हैं। यह भी एक प्रकार का दर्शन ही है। देव-दर्शन न सही प्रकृति दर्शन, इतिहास दर्शन, कला दर्शन, प्रगति दर्शन सही। जहाँ कोई विशेषता देखते हैं वहीं लोग जाते हैं। देखते और वापिस चले आते हैं। लौटने पर अपने देखे हुए दृश्यों का दर्शन स्वजन परिजनों को सुनाते हैं, कोई 'सौगात' वहाँ की होती है तो लाते दिखाई देते हैं। बस, इतने से ही उनकी यात्रा का प्रयोजन पूरा हो जाता है।

यात्रा का पूरा लाभ तब है जब उन दृश्यों के साथ संबद्ध भावनाओं का भी हम स्पर्श करें और उनसे समुचित प्रेरणा प्राप्त करें। हर स्थूल के साथ एक सूक्ष्म मौजूद है, जड़ पदार्थों के भीतर भी एक चेतना विद्यमान रहती है। दार्शनिक इसी का दर्शन करते और कृतकृत्य होते हैं। पंचतत्त्वों, वृक्षों, पर्वतों, नदी, सरोवरों, वन-उपवनों में उन द्रष्टाओं की सूक्ष्म दृष्टि एक उत्कृष्ट आत्मा का दर्शन करती है। देव-दर्शन का आनंद लेती और धन्य होती है। यह दृष्टि यदि न हो तो जो कुछ घमंड की आँखों से देखा जाता है, केवल देखने भर का आँखों का हलका-सा क्षणिक मनोरंजन मात्र प्रदान कर सकता है। ईश्वर चमड़े की आँखों से नहीं, दिव्य चक्षुओं से देखा जाता है, इसी प्रकार किन्हीं विशेष स्थानों के दर्शन का भावनात्मक एवं प्रेरणात्मक लाभ दार्शनिक दृष्टिकोण से उन वस्तुओं एवं स्थानों को देखने पर ही प्राप्त होता है।

२६ दर्शन तो करें, पर इस तरह

ऐसे स्थलों को देखने जब जाएँ तो गहराई तक प्रवेश करने का प्रयास करें। वे स्थान क्या सुनाते और दिखाते हैं, उसे बारीकी से देखें और सुनें। गाँधी जी ने बचपन में एक बार सत्य हरिश्चंद्र नाटक देखा था, देखकर भावान्वित हुए और प्रतिज्ञा की कि वे हरिश्चंद्र बनकर रहेंगे। वैसा ही हुआ भी। अनेक लड़के रोज ही तरह-तरह के खेल-तमाशे, सिनेमा, ड्रामे देखते हैं, उनमें कई स्थानों पर धार्मिक प्रेरणाएँ भी होती हैं, पर वे उसे दिव्य दृष्टि के अभाव में सुन-समझ नहीं पाते, मनोरंजन मात्र करके चले आते हैं। ऐसा देखना एक कौतुक मात्र ही माना जाएगा। जिस विशिष्ट को देखने हम जाएँ उसकी विशेषता, महत्ता, प्रेरणा एवं आत्मा को भी देखने समझने का प्रयत्न करें। जिस प्रकार पानी की बूँद में रहने वाले कीड़ों को देखने के लिए खुर्दबीन यंत्र की जरूरत है, उसी प्रकार संसार में जो विशिष्ट है उसका प्रकाश प्राप्त करने के लिए हमें अपने भीतर दार्शनिक दृष्टि उत्पन्न करनी चाहिए, तभी दर्शन का वास्तविक लाभ प्राप्त हो सकेगा।

ऐतिहासिक, प्राकृतिक, धार्मिक किसी भी पुण्य स्थल के विद्वान-तपस्वी व्यक्ति के दर्शन करने हम जाएँ तो उससे कुछ सीखने, समझने, प्रेरणा एवं उत्साह प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। यह प्रेरणा यदि जीवन को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करने वाली हुई तो अवश्य ही दर्शन का समुचित लाभ मिलेगा, किंतु यदि देखने जैसे कौतूहल तृप्त करने तक ही बात सीमित रही तो समझना चाहिए कि उस दर्शन का पुण्य उतना ही रहा जितना प्रत्यक्ष मनोरंजन हो सका।

दर्शन का लाभ बहुत है, पर है तभी जब उससे मिल सकने वाली प्रेरणाएँ भी हम उपलब्ध करें। दिव्य दर्शनों के लिए हमें उत्साहपूर्वक शुभ स्थानों, दिव्य व्यक्तियों एवं उपयुक्त आयोजनों के संपर्क में आते रहना चाहिए, पर साथ ही दर्शन का दर्शन भी समझना चाहिए। दर्शन से

दर्शन तो करें, पर इस तरह २७

यदि कुछ प्रेरणा मिले तो उससे ही हमारा भला होगा, देखने भर की क्रिया एक सामान्य शरीर आचरण है और उसका लाभ भी उसी अनुपात से नगण्य सा ही होता है।

हमारी भावना ही देवता को सामर्थ्य देती है—इसमें कुछ भी संदेह नहीं कि मूर्तियों के दर्शनों, तीर्थों की यात्रा, महापुरुषों के सान्निध्य में जाने से जो लाभ मिलता है, उसमें प्रमुखता भावना की ही होती है। अगर आंतरिक श्रद्धा, दृढ़ विश्वास, कल्याण प्राप्त करने की सच्ची अभिलाषा न हो तो चाहे रोज दर्शन किया जाए तो भी उससे कोई विशेष प्रयोजन सिद्ध न होगा। पंडा, पुजारी सदैव मंदिर के भीतर ही रहते हैं और मूर्तियों के अंग-प्रत्यंग को निकट से बहुत अच्छी तरह देखा करते हैं, पर उनको वह प्रेरणा प्राप्त नहीं होती जो एक भावुक और विश्वासी दर्शनार्थी को दूर से केवल दो-चार मिनट दर्शन करने से प्राप्त हो जाती है। इतना ही क्यों दर्शनार्थियों में से भी जो जैसी भावना रखकर दर्शनों को जाता है, वह वैसे ही परिणाम को प्राप्त करता है। बहुत से व्यक्ति नियम पालन के लिए नित्य प्रति किसी मंदिर में जाकर दर्शन कर आते हैं, पर उनको वर्षों ऐसा करते रहने पर भी कोई विशेष आध्यात्मिक लाभ नहीं मिलता। सांसारिक व्यवहार की दृष्टि से वे जैसे भले-बुरे पहले से होते हैं, दर्शनों के करते रहने पर भी वैसे ही रहते हैं। सावन के झूलों के अवसर पर हजारों व्यक्ति मंदिरों में सजावट और रासलीला आदि देखने को पहुँचते हैं। मूर्ति के सामने हाथ जोड़ देने पर भी उनको उसके प्रभाव या महत्त्व का कुछ भी ध्यान नहीं आता। वे केवल रोशनी, सजावट की सामिग्री, खेल-तमाशों तथा वहाँ की भीड़-भाड़ से ही मनोरंजन करके चले जाते हैं। इनको देव मूर्ति के दर्शन से कुछ लाभ होता है, यह किसी प्रकार समझ में नहीं आता।

इतना ही क्यों अनेक लोग तो मंदिर में जाकर वहाँ देवता के दर्शन करके कुछ सद्भावना या आत्मकल्याण का विचार करने के बजाय वहाँ २८ दर्शन तो करें, पर इस तरह

भी खेलने की मनोवृत्ति प्रकट करने लगते हैं। एक शिवजी के मंदिर में शिवरात्रि के मेले के अवसर पर अनेक व्यक्ति भीतर जाकर जल चढ़ा सकना कठिन समझकर बाहर से जल भरे मिट्टी के पात्र को फेंककर मंदिर के शिखर पर मारते हैं। उनमें अधिकांश व्यक्ति इसी को अपनी विशेषता समझते हैं कि उनका फेंका पात्र ऊपर के शिखर पर जाकर ठीक तरह लग जाए। ऐसे व्यक्ति वहाँ घंटों तक खड़े होकर यही तमाशा देखते रहते हैं कि किसका पात्र शिखर में अच्छी तरह लगता है और किसका गलती से दूसरी तरफ चला जाता है या नीचे ही लगकर फूट जाता है। अगर ऐसे मनोरंजन करने वाले यह समझें कि हमको शिवजी पर जल चढ़ाने का पुण्यफल प्राप्त हो गया तो इसे विडंबना ही कहना पड़ेगा।

इस सबका कारण यही है कि फल तो भावना का होता है। देव मूर्ति तो पाषाण या धातु या लकड़ी आदि की किसी शिल्पकार के द्वारा बनाई ही गई है। किसी मंदिर में प्रतिष्ठित कर दिए जाने से वह देव की तरह मानी जाने लगी और हजारों व्यक्तियों को फल भी देने लगी अन्यथा यदि उसी मूर्ति को कोई कला प्रेमी खरीदकर अपने संग्रहालय में रख देता तो वह न देवता मानी जाती और न उसमें किसी प्रकार का फल देने की शक्ति अनुभव की जाती। इतना ही क्यों आजकल मूर्ति चोर जब किसी मंदिर में पूजा जाने वाली प्रतिमा को चुराकर विदेशी और विधर्मी व्यक्तियों के हाथ बेच देते हैं, जिनका उद्देश्य उसके द्वारा केवल अपनी बैठक को सजाना होता है, तो मूर्ति का दैवी प्रभाव और शक्ति भी समाप्त हो जाती है और वह मनोरंजन करने वाली एक कलाकृति मात्र समझी जाने लगती है। इन उदाहरणों से हम अंत में महाकवि रवींद्रनाथ की उस कविता के तात्पर्य को सत्य समझते हैं जिसमें कहा गया है कि मूर्ति अथवा मंदिर या उससे संलग्न रहने वाले उपकरणों का कोई महत्त्व या

दर्शन तो करें, पर इस तरह २९

दैवी शक्ति मानना युक्तियुक्त नहीं, वरन जो कुछ चमत्कार है, वह सर्वत्र व्याप्त परमात्म-शक्ति का है।

देवदर्शन के पीछे दिव्य दृष्टि भी रहे—दृग्-दर्शन मात्र से स्वर्ग, मोक्ष, सुख, शांति, संपत्ति अथवा समृद्धि आदि का लाभ पाने का विश्वास रखने वालों की श्रद्धा को विवेक सम्मत नहीं माना जा सकता। उनकी वह अतिश्रद्धा अथवा अतिविश्वास एक प्रकार से अज्ञानजन्य ही होता है जिसे अंधविश्वास अथवा अंधश्रद्धा भी कहते हैं। श्रद्धा जहाँ आत्मा की उन्नति करती है, मन-मस्तिष्क को सुसंस्कृत एवं स्थिर करती है, ईश्वर प्राप्ति के लिए व्यग्र एवं जिज्ञासु बनाती है, वहाँ मूढ़-श्रद्धा अथवा अंध-विश्वास उसे अवास्तविकता के अंध गर्त में गिरा देती है। अंध-विश्वासियों अथवा अंध-श्रद्धालुओं को अपनी अविवेकपूर्ण धारणाओं से लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक होती है। आज धर्म के नाम पर जो धूर्तता देखी जाती है, उसका बहुत कुछ उत्तरदायित्व उन अंध-श्रद्धालुओं पर ही है जो धर्म के सत्य स्वरूप एवं कर्म की विधि और उसका परिणाम नहीं जानते। जनता की अंधश्रद्धा के आधार पर न जाने कितने आडंबरों एवं प्रवचक लोग अर्थ एवं आदर का लाभ उठाया करते हैं। यही कारण है कि शास्त्रों में जहाँ श्रद्धा की प्रशंसा की गई वहाँ अंध-श्रद्धा की निंदा भी।

दर्शन करने के संबंध में भी भोले लोगों की यह अंध-श्रद्धा उन्हें दर्शन के मूल प्रयोजन एवं उससे होने वाले लाभ से वंचित ही रखती है। लाखों-करोड़ों लोग प्रतिवर्ष तीर्थों तथा तीर्थ पुरुषों के दर्शन करने देश के कोने-कोने से आते-जाते हैं। अनेक लोग तो प्रतिदिन प्रातः-सायं मंदिरों में देव-प्रतिमा के दर्शन करने जाया करते हैं, किंतु क्या कहा जा सकता है कि इन लोगों को वह लाभ होता होगा जो उन्हें अभीष्ट रहा करता है। निश्चय ही नहीं। उन्हें इस बाह्य दर्शन द्वारा एक भ्रामक आत्मतुष्टि के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिल सकता।

३० दर्शन तो करें, पर इस तरह

यदि केवल देवप्रतिमा, देवस्थान अथवा देवपुरुष को देखने मात्र से, हाथ जोड़ने, दंडवत करने, पैसा अथवा पूजा प्रसाद चढ़ा देने भर से ही किसी के पापों का मोक्ष हो जाता, दुख-दारिद्र्य दूर हो जाता, पुण्य, परमार्थ, स्वर्ग, मुक्ति आदि मिल सकते, मन, बुद्धि आत्मा की उन्नति हो सकती, जीवन में तेजस्विता, देवत्व अथवा निर्द्वंदता का समावेश हो सकता तो दिन-रात देव प्रतिमाओं की परिचर्या करने वाले पुजारियों, मंदिरों की सफाई सँभाल करने वाले सेवकों को यह सभी लाभ अनायास ही मिल जाते। उनके सारे दुःख द्वंद्व दूर हो जाते और सुख-शांति पूर्ण स्वर्गीय जीवन के अधिकारी बन जाते हैं, किंतु ऐसा देखने में नहीं आता। मंदिर के सेवक और प्रतिमाओं के पुजारी भी अन्य सामान्य जनों की भाँति ही अवशेष जीवन में पड़े-पड़े दुखों, द्वंद्वों तथा शोक-संतापों को सहते रहते हैं। उनके जीवन में रंचमात्र भी परिवर्तन नहीं होता, यद्यपि उनकी पूरी जिंदगी देव-प्रतिमाओं के सान्निध्य एवं देवस्थान की सेवा करते-करते बीत जाती है।

अनेक लोगों की धारणा रहती है कि दर्शन कर लेने, फूल माला चढ़ा देने, दीपदान कर देने अथवा दंडवत प्रदक्षिणा का क्रम पूरा कर देने मात्र से ही देवता प्रसन्न होकर अभीष्ट मनोरथों को पूरा कर देंगे। इस प्रकार के भ्रांत विश्वासी यह नहीं समझ पाते कि परमात्मा के प्रतिनिधि देवता उन निकृष्ट कोटि के लोगों की तरह नहीं होते जो हाजिरी दे देने अथवा कोई भेंट-उपहार उपस्थित कर देने, प्रशंसा अथवा स्तवन वाक्यों का उच्चारण कर देने मात्र से प्रसन्न हो जाते हैं और अपनी खुशामद पसंद आदत के कारण चाटुकार के दुर्गुण नहीं देखते और अपने निकट ले लेते हैं। यदि देवताओं की प्रकृति इसी प्रकार की होती तो उनमें और साधारण अधिकारियों में कोई भेद न रहता। खुशामद सुनकर अथवा किन्हीं अन्य प्रकारों से प्रसन्न होकर वे किसी पर भी अनुग्रह कर देते।

दर्शन तो करें, पर इस तरह ३१

देवताओं की प्रसन्नता, खुशामद पसंद लोभी व्यक्तियों की तरह सस्ती नहीं होती। उनकी अनुकंपा प्राप्त करने के लिए हमको को कदम-कदम पर अपने दोष-दुर्गुणों को दूर करना होगा, जीवन को पवित्र तथा पुण्यपूर्ण बनाना होगा। अपने मन, वचन, कर्मों में देवत्व का समावेश करना होगा, जिसके लिए आत्मसंयम, त्याग तथा तपश्चर्यापूर्वक जीवन-साधना करनी होगी। दिव्यता की यह उपलब्धि श्रम एवं समयसाध्य है, जिसको केवल वही व्यक्ति प्राप्त कर सकता है, जो क्षण-क्षण पर अपने आचार-विचार तथा व्यवहार में सावधान रहकर चलेगा। देव अनुग्रह की उपयुक्त पात्रता प्राप्त किए बिना कोई भी व्यक्ति केवल देवदर्शन अथवा दक्षिणा-प्रदक्षिणा द्वारा मनोरथ को सिद्ध नहीं कर सकता। □

मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा-३